International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

# छठी शताब्दी ईसा पूर्व में धर्म का लोकतांत्रिकरण: यज्ञ और पुरोहितवाद के विकल्प

**डॉ. मिथुन कुमार**

स्नातकोत्तर प्राचीन इतिहास,संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, टी.एम.बी.यू.,भागलपुर

**Abstract**

छठी शताब्दी ईसा पूर्व भारतीय इतिहास में एक गहन धार्मिक और सामाजिक पुनर्रचना का युग था। यह काल प्राचीन वैदिक सभ्यता के ढांचे में जड़ता और असमानता के विरुद्ध उभरते विरोध और नए वैचारिक आंदोलनों का काल रहा। वैदिक परंपरा, जो मुख्यतः ब्राह्मण वर्ग के एकाधिकार पर आधारित थी, यज्ञों, मंत्रों और कर्मकांडों के माध्यम से धार्मिक जीवन को नियंत्रित करती थी। इसमें आम जन, विशेषतः शूद्रों, महिलाओं और निम्नवर्गीय समाज के लिए धार्मिक और आध्यात्मिक सहभागिता के अवसर सीमित थे। ब्राह्मणों द्वारा संचालित यज्ञ महंगे और जटिल होते थे, जिससे जनसाधारण न केवल आर्थिक रूप से शोषित होता था, बल्कि धार्मिक ज्ञान और मुक्ति के अधिकार से भी वंचित रहता था।इसी सामाजिक पृष्ठभूमि में एक नया धार्मिक आंदोलन उभरकर सामने आया, जिसने वेद, यज्ञ और ब्राह्मणवाद की प्रधानता को चुनौती दी। बौद्ध और जैन धर्म के रूप में दो प्रमुख श्रमण परंपराएं अस्तित्व में आईं। इन दोनों धर्मों ने व्यक्ति की आंतरिक नैतिकता, सत्य, अहिंसा, तप, त्याग और आत्मसंयम को धर्म का मूल आधार माना। वेदों की प्रामाणिकता को नकारते हुए इन परंपराओं ने कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणा को तो स्वीकार किया, परंतु मोक्ष प्राप्ति के लिए किसी जाति या यज्ञ की आवश्यकता नहीं मानी। उन्होंने सम्यक दृष्टि, सम्यक वाणी और सम्यक आचरण जैसे सिद्धांतों के माध्यम से जीवन की नैतिक दिशा को स्पष्ट किया।

बौद्ध धर्म में तथागत गौतम बुद्ध ने 'चार आर्य सत्य' और 'अष्टांगिक मार्ग' के द्वारा एक ऐसा मार्ग बताया, जो मानव को दुःख से मुक्ति दिला सकता था। वहीं, महावीर स्वामी ने आत्मा की शुद्धि के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे महाव्रतों की शिक्षा दी। दोनों ने ही संन्यास, तप और ध्यान को महत्व देते हुए, साधारण जन को भी धार्मिक साधना का अधिकार दिया। स्त्रियाँ, शूद्र, व्यापारी तथा अन्य उपेक्षित वर्ग इन आंदोलनों से जुड़कर न केवल धार्मिक स्वतंत्रता का अनुभव करने लगे, बल्कि सामाजिक सम्मान भी प्राप्त करने लगे।यह युग केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही परिवर्तनकारी नहीं था, बल्कि यह सामाजिक संरचना में भी व्यापक परिवर्तन का संकेतक था। इस काल में ज्ञान का लोकतंत्रीकरण हुआ धार्मिक ग्रंथों और ज्ञान का स्वरूप बहुसंख्यक जनता की भाषा (पालि, प्राकृत) में प्रस्तुत किया गया, जिससे वह सुलभ और बोधगम्य हो गया। इस युग ने भारत में ऐसी धार्मिक चेतना को जन्म दिया जो भक्ति, सहिष्णुता और समता पर आधारित थी, और जिसने आने वाले समय में धार्मिक सह-अस्तित्व और सामाजिक सुधार की नींव रखी।इस प्रकार, छठी शताब्दी ईसा पूर्व का काल एक गहन आत्मचिंतन, सामाजिक पुनरावलोकन और धार्मिक नवचेतना का युग था, जिसने भारत की धार्मिक-सामाजिक दिशा को नई दिशा दी और उसे अधिक मानवीय, नैतिक और समावेशी बनाया।

**शब्द कुंजी**: धार्मिक नवचेतना, पुरोहितवाद, श्रमण परंपरा, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सांख्य, वैशेषिक, नास्तिक दर्शन

छठी शताब्दी ईसा पूर्व भारत के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक जीवन में गहरा बदलाव देखने को मिला। इस युग में छोटे-छोटे जनपदों का विकास हुआ, जो धीरे-धीरे महाजनपदों के रूप में विस्तृत हुए। जैसे मगध, कौशल, वत्स, अवंती, कलिंग आदि महाजनपदों ने अपनी प्रशासनिक, सैन्य और आर्थिक ताकत के बल पर क्षेत्रीय प्रभुत्व स्थापित किया।[1] इस विस्तार के साथ नगरों का विकास भी तीव्र गति से हुआ। नए नगरों में शिल्पकला और कुटीर उद्योग का विकास हुआ, जिससे स्थानीय और दूर-दराज के व्यापार का प्रसार हुआ। धन और वस्तुओं के आदान-प्रदान के लिए मुद्रा प्रथा की शुरुआत भी इसी काल की विशेषता थी। व्यापार की प्रगति ने आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ सामाजिक जीवन में नए वर्गों का उदय किया, जैसे व्यापारी वर्ग, शिल्पकार, नौकरशाह और सैनिक।इन बदलावों ने वैदिक सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक परंपराओं को चुनौती दी।[2] वैदिक धर्म की मुख्य पहचान यज्ञ, कर्मकांड और ब्राह्मणों के अधिपत्य से होती थी। यज्ञों के आयोजन के लिए विशाल आर्थिक संसाधनों की आवश्यकता होती थी, जिससे समाज के आर्थिक दबाव बढ़े। ब्राह्मण वर्ग ने इन यज्ञों के आयोजन और वैदिक ज्ञान पर अपना विशेषाधिकार स्थापित किया, जो धीरे-धीरे सामाजिक असमानता का कारण बना। वर्णव्यवस्था की कड़ाई ने समाज को कठोर रूप से वर्गीकृत कर दिया था, जिसमें शूद्र और महिलाओं को धार्मिक कर्मकांडों और धार्मिक ज्ञान से बाहर रखा गया था। ऐसे में नया उभरता हुआ आर्थिक और सामाजिक वर्ग, जो व्यापार, उद्योग और शिल्प से जुड़ा था, वह वैदिक धार्मिक संरचना से असंतुष्ट हो गया।[3] सामाजिक असमानताओं और धार्मिक व्यवस्थाओं की जटिलताओं के बीच इस युग में व्यापक असंतोष फैल गया। जनमानस में ऐसे धार्मिक और दार्शनिक विचारों की खोज बढ़ी जो जाति-पाति, यज्ञ और कर्मकांडों के बंधन से मुक्त हों। इसी कारण इस युग में बौद्ध और जैन धर्म जैसे श्रमण आंदोलन का उदय हुआ। इन आंदोलनों ने धार्मिक जीवन को सरल, नैतिक और व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित किया।[4] उन्होंने यज्ञ और पुरोहितवाद की जगह आत्मज्ञान, अहिंसा, सत्य और तपस्या को प्रमुखता दी। इस प्रकार, महाजनपद काल की सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनशीलता और वैदिक धर्म की सीमाओं ने नई धार्मिक चेतना और लोकतांत्रिक विचारों को जन्म दिया, जिसने पूरे समाज में धर्म के लोकतांत्रिकरण की नींव रखी।[5]

वैदिक धर्म, जो मुख्यतः यज्ञ, हवन और बलिदान जैसी धार्मिक क्रियाओं पर आधारित था, अपने आरंभिक काल में समाज के एक छोटे से वर्ग—ब्राह्मणों—के नियंत्रण में था। यज्ञ को धार्मिक अनुष्ठानों का सर्वोच्च माध्यम माना जाता था, जिसके संचालन का अधिकार केवल ब्राह्मण पुरोहितों के पास था। वे यज्ञ के मंत्रों, विधियों और संस्कृत भाषा में धार्मिक ज्ञान के संरक्षक थे। संस्कृत भाषा की जटिलता और यज्ञ कर्मकांडों की विशेष प्रक्रिया के कारण आम जनता, खासकर स्त्रियाँ, शूद्र और वाणिज्य वर्ग, धार्मिक क्रियाकलापों से लगभग पूरी तरह वंचित रह गए। इस प्रकार, धर्म का स्वरूप अत्यंत पुरोहितकेंद्रित हो गया, जिसमें केवल ब्राह्मणों को मोक्ष की प्राप्ति का विशेषाधिकार प्राप्त था।[6]यह पुरोहितवाद न केवल धार्मिक अधिकारों को केंद्रीकृत करता था, बल्कि सामाजिक जीवन में भी वर्ग-भेद को मजबूत करता था। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और उनके द्वारा ही धार्मिक संस्कार और अनुष्ठान संपन्न किए जाते थे। शूद्रों को धार्मिक गतिविधियों में भाग लेने की अनुमति नहीं थी, जिससे वे समाज के मुख्य धार्मिक जीवन से अलग हो गए। स्त्रियों की धार्मिक स्वतंत्रता भी सीमित थी, क्योंकि उन्हें वैदिक संस्कृतियों में धार्मिक ज्ञान और यज्ञ कर्मकांड से दूर रखा गया था। यज्ञ कर्मकांडों में बलिदान, मंत्रोच्चारण और जटिल विधियों का पालन आवश्यक था, जो केवल ब्राह्मण पुरोहित ही कर सकते थे।[7]इस स्थिति ने धार्मिक और सामाजिक असमानता को जन्म दिया, जिसके कारण समाज में असंतोष फैलने लगा। यज्ञ की बढ़ती आर्थिक मांग ने राजा, शासक और जनता पर भारी बोझ डाला,

जिससे आर्थिक और सामाजिक तनाव भी उत्पन्न हुआ। इसी दौरान इस पुरोहितकेंद्रित वैदिक धर्म के विरोध में नए धार्मिक-दार्शनिक आंदोलन उभरे, जैसे जैन धर्म और बौद्ध धर्म, जिन्होंने यज्ञ और कर्मकांड के स्थान पर नैतिकता, अहिंसा, सत्य और आत्मसंयम को महत्व दिया।[8] उन्होंने धर्म को सभी वर्गों और आम जनता के लिए सुलभ बनाया, जिससे धर्म का लोकतंत्रीकरण संभव हुआ। इस प्रकार, वैदिक धर्म का पुरोहितवाद सामाजिक और धार्मिक असमानताओं का एक बड़ा कारण था, जिसे नए धार्मिक आंदोलनों ने चुनौती दी और सामाजिक न्याय की नई परिकल्पना दी

छठी शताब्दी ईसा पूर्व भारत में धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन के गहरे दौर ने वैदिक धर्म की पुरोहितकेंद्रित व्यवस्था, यज्ञ-बलिप्रथा और वर्ण-व्यवस्था की कठोरता को चुनौती दी। इस असंतोष के माहौल में वैकल्पिक धार्मिक प्रवृत्तियाँ उभरीं, जिन्हें सामान्य रूप से श्रमण परंपरा कहा जाता है। श्रमण शब्द का अर्थ है 'कष्ट सहने वाला' या 'तपस्या करने वाला', जो इस परंपरा के योग, तपस्या, और आत्मसंयम पर आधारित दृष्टिकोण को दर्शाता है।इस परंपरा का प्रतिनिधित्व मुख्यतः बौद्ध धर्म, जैन धर्म, आजीवक मत और अन्य कुछ नास्तिक व आस्तिक संप्रदायों ने किया। ये सभी वैदिक धर्म के कर्मकांड और ब्राह्मणों के आधिपत्य को चुनौती देते हुए सामाजिक समानता, नैतिकता, और साधु-साधन के माध्यम से मोक्ष की बात करते हैं। इनके सिद्धांत वैदिक कर्मकांडों से भिन्न थे, क्योंकि ये यज्ञ और बलिदान को असार मानते थे और आत्मा के पुनर्जन्म, कर्म के नियम, और दुःख से मुक्ति पर ध्यान केंद्रित करते थे।[9]

बौद्ध धर्म में गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्य (दुःख, दुःख का कारण, दुःख का नाश, और निर्वाण का मार्ग) का उपदेश दिया। उन्होंने अष्टांगिक मार्ग (समीचीन दृष्टि, सही संकल्प, सही वाणी, सही कर्म, सही आजीविका, सही प्रयास, सही स्मृति, और सही समाधि) के माध्यम से नैतिक और आध्यात्मिक विकास का मार्ग दिखाया। बुद्ध का यह उपदेश पुरोहितवाद और जातिवाद को खारिज करता था और सभी मनुष्यों को समान आध्यात्मिक अधिकार प्रदान करता था।[10] जैन धर्म के महावीर ने भी अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और तपस्या को मोक्ष के लिए आवश्यक बताया। जैन धर्म में संसार को जन्म-मरण के चक्र में फंसा हुआ माना गया और आत्मा की शुद्धि तथा कर्मों के बंधन से मुक्ति पर बल दिया गया। जैन मत ने भी वर्ण व्यवस्था का विरोध किया और समानता का संदेश दिया।आजीवक मत, जो नास्तिक परंपरा से जुड़ा था, कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता था।[11] यह मत यह मानता था कि जीवन और मृत्यु का कोई पुनरावृत्ति नहीं होती और कर्म का प्रभाव समाप्त हो जाता है। आजीवकों का दृष्टिकोण समाज में एक नई दार्शनिक बहस का कारण बना।श्रमण परंपरा ने धर्म और समाज दोनों को अधिक लोकतांत्रिक बनाया। इन धार्मिक आंदोलनों ने धर्म को केवल ब्राह्मणों के लिए सीमित न रखते हुए आम जनता के लिए खुला किया। इसने नैतिकता, आत्म-अनुशासन और व्यक्तिगत अनुभव को धार्मिक जीवन का मूल आधार माना।इस प्रकार, श्रमण परंपरा वैदिक धर्म के पुरोहितवाद और कर्मकांडों के विकल्प के रूप में उभरी, जिसने भारत के धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक जीवन में गहरा प्रभाव डाला। इसने जाति-व्यवस्था, धार्मिक कर्मकांड और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आंदोलन की नींव रखी और धर्म के लोकतंत्रीकरण तथा सामाजिक समानता की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[12]

गौतम बुद्ध ने न केवल धार्मिक क्रांति की शुरुआत की, बल्कि उन्होंने सामाजिक सुधार की भी नींव रखी। उनकी शिक्षाएँ केवल आध्यात्मिक मुक्ति तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि उन्होंने सामाजिक समानता और करुणा पर भी जोर दिया। बुद्ध ने जाति व्यवस्था का कड़ाई से विरोध किया और अपने भिक्षु संघ में सभी वर्गों के लोगों को समान अवसर दिया।[13] इससे पूर्व, वैदिक समाज में ब्राह्मणों को धार्मिक और सामाजिक विशेषाधिकार प्राप्त थे, पर बुद्ध ने इस विभाजन को चुनौती दी। बौद्ध धर्म का मूल मंत्र था अहिंसा, अर्थात किसी भी जीव को नुकसान न पहुंचाना। इसने हिंसा-प्रधान यज्ञों और बलिदानों की प्रथा को समाप्त करने में मदद

International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

की। [14] बुद्ध ने कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार किया, लेकिन उन्होंने इसे तर्कसंगत और व्यवहारिक दृष्टि से समझाया, जिससे उनका धर्म वैज्ञानिकता के निकट माना गया।उनकी शिक्षाएँ समसामयिक समाज की विविध समस्याओं जैसे सामाजिक असमानता, धार्मिक आडंबर, और आत्मिक अशांति का समाधान प्रस्तुत करती थीं। बौद्ध मठ और विहार ज्ञान के केंद्र बने, जहाँ शिक्षा, चिकित्सा, और सामाजिक सहायता का कार्य भी होता था।[15] बुद्ध धर्म ने पूरे भारत में तेजी से प्रसार पाया और आगे चलकर एशिया के अन्य देशों जैसे श्रीलंका, तिब्बत, चीन, जापान तक पहुँचा। पाली भाषा में दिए गए उपदेशों ने इसे जन-जन तक पहुँचने योग्य बनाया। इसके अतिरिक्त, बौद्ध धर्म में न केवल धार्मिक बल्कि नैतिक, दार्शनिक और सामाजिक परिवर्तन का भी व्यापक प्रभाव था। इसने वैदिक धर्म की जटिलता को सरल करते हुए लोगों को आत्मचिंतन, करुणा, और शांति की ओर प्रेरित किया।[16]

जैन धर्म की स्थापना महावीर स्वामी ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व की सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों के संदर्भ में की। उस समय वैदिक धर्म के यज्ञ और कर्मकांडों ने समाज में अनेक असमानताएं और कुप्रथाएं जन्म दी थीं। महावीर ने इन प्रथाओं की तीव्र आलोचना की और स्वयं पर कठोर तप और संयम का पालन करते हुए आत्मा की शुद्धि और मोक्ष का मार्ग दिखाया।[17] उन्होंने अहिंसा को सर्वोच्च धर्म माना और इसे जीवन के प्रत्येक पहलू में लागू करने की शिक्षा दी। जैन धर्म ने समाज में नए मूल्य स्थापित किए, जैसे कि सभी जीवों के प्रति करुणा, सत्यनिष्ठा, अपरिग्रह (संपत्ति में न्यूनता) और संयम। ये सिद्धांत न केवल धार्मिक थे, बल्कि सामाजिक क्रांति का भी माध्यम बने। जैन धर्म ने जाति-व्यवस्था को अस्वीकार किया और धार्मिक समानता का संदेश दिया।[18] इसके अलावा, जैन मठों ने शिक्षा, चिकित्सा और सामाजिक सेवा के कार्यों को भी बढ़ावा दिया। जैन धर्म का साहित्यिक योगदान भी अद्वितीय है। जैन ग्रंथों में दर्शन, तत्त्वज्ञान, और नैतिक शिक्षा का विस्तृत विवरण मिलता है। [19] जैन परंपरा में *आचारांग सूत्र*, *सूत्रम त्रयी*, और *तत्त्वार्थ सूत्र* जैसे ग्रंथों का विशेष स्थान है, जो जीवन, कर्म, आत्मा, और मोक्ष के रहस्यों को समझाते हैं।जैन धर्म का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर गहरा रहा है। उनकी अहिंसा की नीति महात्मा गांधी के अहिंसा आंदोलन का आधार बनी। जैन धर्म ने कला, वास्तुकला, और साहित्य में भी उल्लेखनीय योगदान दिया है, जैसे प्राचीन जैन मंदिर और अभिलेख।इस प्रकार, जैन धर्म ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर वर्तमान तक न केवल धार्मिक दृष्टिकोण से, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक रूप से भारत में एक स्थायी और व्यापक प्रभाव छोड़ा है।[20]

छठी शताब्दी ईसा पूर्व की धार्मिक क्रांति में बौद्ध और जैन धर्म के साथ-साथ कई अन्य दार्शनिक प्रणालियों का भी उदय हुआ, जिन्होंने वैदिक धर्म के पुरोहितवाद और कर्मकांडों की आलोचना की। इनमें से एक प्रमुख था चार्वाक दर्शन, जिसे भौतिकवादी और नास्तिक दर्शन के रूप में जाना जाता है।[21] चार्वाक ने धर्म, आत्मा, पुनर्जन्म और परलोक की अवधारणाओं को खारिज करते हुए केवल इन्द्रिय भोगों और सांसारिक सुखों को सत्य माना। उन्होंने धर्म को समाज पर नियंत्रण का साधन और मिथ्या मानकर इसके अस्तित्व पर सवाल उठाए।इसके विपरीत, सांख्य, वैशेषिक, और योग जैसे दर्शनों ने भी वैदिक धर्म के पारंपरिक स्वरूप से भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, लेकिन उन्होंने मोक्ष की अवधारणा को स्वीकार किया। इन दार्शनिक प्रणालियों ने मोक्ष के मार्ग को ब्राह्मण या किसी विशिष्ट वर्ग तक सीमित न रखकर सार्वभौमिक और व्यक्तिगत अनुभव का स्वरूप दिया। सांख्य दर्शन में प्रकृति (प्रकृति) और पुरुष (चेतना) के द्वैतवाद के आधार पर मुक्ति का मार्ग बताया गया।[22] वैशेषिक दर्शन ने परमाणु, पदार्थ और गुणों का विश्लेषण करते हुए ज्ञान के माध्यम से मोक्ष को संभव माना। योग दर्शन ने आत्मा के शुद्धिकरण और ध्यान के अभ्यास के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सुझाया।इन सभी दार्शनिक प्रवृत्तियों ने धर्म को केवल कर्मकांड या यज्ञ से परे देखा और नैतिक, दार्शनिक तथा आत्म-अनुभव पर जोर दिया।[23] इस प्रकार, इन दर्शनशास्त्रों ने वैदिक धर्म की संकीर्णताओं को चुनौती देते हुए एक

व्यापक और लोकतांत्रिक धार्मिक दृष्टिकोण का विकास किया।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व से भारतीय समाज में धर्म का स्वरूप व्यापक रूप से बदलने लगा। पारंपरिक वैदिक धर्म, जो मुख्यतः यज्ञ, बलिदान और पुरोहितों के आधिपत्य पर आधारित था, उसकी जगह एक नया, अधिक नैतिक और आचरण-आधारित धार्मिक दृष्टिकोण उभरा। इस नए स्वरूप में धर्म केवल कर्मकांडों और अनुष्ठानों का समूह नहीं रहा, बल्कि यह एक ऐसा जीवन दृष्टिकोण बन गया, जो व्यक्तिगत आचरण, नैतिकता और समावेशिता पर आधारित था।इस युग के धार्मिक आंदोलनों ने वर्ण व्यवस्था और लिंग आधारित भेदभाव को चुनौती दी।[24] पूर्व में धार्मिक और सामाजिक अधिकार केवल ब्राह्मण और उच्च वर्णों तक सीमित थे, जबकि शूद्रों, स्त्रियों और व्यापारियों को धार्मिक क्रियाओं और धार्मिक ज्ञान से दूर रखा जाता था। लेकिन अब इन वर्गों की धार्मिक भागीदारी सुनिश्चित हुई। बौद्ध और जैन धर्मों ने स्पष्ट रूप से समानता का संदेश दिया और सभी वर्गों के लोगों को आध्यात्मिक उत्थान के समान अवसर प्रदान किए। स्त्रियों को भी धार्मिक और साधना के अधिकार मिलने लगे, जिससे धर्म का स्वरूप अधिक समावेशी बना।[25]

यज्ञ, बलिदान और बाहरी कर्मकांडों की जगह ध्यान, समाधि, सेवा और नैतिक जीवन को अधिक महत्व मिलने लगा। धर्म केवल बाहरी क्रियाकलापों का संग्रह नहीं रह गया, बल्कि आंतरिक शुद्धि, आत्म-संयम, करुणा और सहिष्णुता जैसे गुणों को महत्व दिया जाने लगा। सेवा और दूसरों के प्रति प्रेम को धर्म का महत्वपूर्ण अंग माना गया। इससे धर्म का सामाजिक प्रभाव बढ़ा और यह आम जनता के जीवन में गहराई से प्रवेश करने लगा।[26] धर्म के इस लोकतांत्रिक स्वरूप ने समाज में सामाजिक न्याय, समानता और करुणा के सिद्धांतों को बल दिया। इसके कारण न केवल धार्मिक क्षेत्र में, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी बड़े बदलाव आए। लोग अपने व्यक्तिगत अनुभवों, नैतिकता और धार्मिक ज्ञान के आधार पर अपने धर्म का पालन करने लगे, जिससे धर्म का केंद्रीकरण पुरोहितों के हाथों से बाहर निकल गया।[27] इस नई सोच ने भारत के धार्मिक परिदृश्य को समृद्ध और अधिक समावेशी बनाया।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व की धार्मिक क्रांति ने धर्म के स्वरूप को एक संकीर्ण, जाति-आधारित और कर्मकांडप्रधान व्यवस्था से निकालकर एक नैतिक, समावेशी और लोकतांत्रिक दिशा में अग्रसर किया।[28] इस युग में बौद्ध और जैन धर्म ने धर्म को आचरण, ध्यान, सेवा, और नैतिकता से जोड़ते हुए समाज के सभी वर्गों के लिए धार्मिक मार्ग खोल दिए। स्त्रियाँ, शूद्र, वणिक और अन्य वंचित समूह अब धार्मिक समुदायों के सक्रिय भागीदार बने।[29] यज्ञ और दान की जगह ध्यान, समाधि, करुणा, और सत्य जैसे नैतिक मूल्यों को धर्म का आधार माना गया। बौद्ध धर्म में अष्टांगिक मार्ग और पंचशील, तथा जैन धर्म में पंचव्रतों ने धर्म को हर व्यक्ति की नैतिक जिम्मेदारी से जोड़ा। इस समावेशी दृष्टिकोण का प्रभाव शिक्षा और संस्कृति पर भी पड़ा बौद्ध विहार और जैन मठ ज्ञान के सार्वजनीन केंद्र बन गए।[30] इन धार्मिक आंदोलनों ने धार्मिक सहिष्णुता, बहुलता और संवाद की संस्कृति को जन्म दिया, जो आगे चलकर भक्ति आंदोलन और गांधीवादी विचारधारा में भी परिलक्षित हुई।[31] यही लोकतांत्रिक चेतना आज भारतीय संविधान की धर्मनिरपेक्षता, समता और धार्मिक स्वतंत्रता की भावना में भी जीवंत है।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का युग भारतीय इतिहास में धार्मिक चेतना के लोकतांत्रिक पुनरुत्थान का काल था, जिसने धर्म को विशिष्ट वर्गों की सीमा से बाहर निकालकर जनसामान्य के नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन से जोड़ दिया। बौद्ध और जैन धर्मों ने जहाँ पुरोहितवाद, यज्ञकांड और वर्णाधारित धार्मिक वर्चस्व को चुनौती दी, वहीं अन्य दार्शनिक परंपराओं जैसे चार्वाक, सांख्य, वैशेषिक और योग ने धर्म की वैकल्पिक अवधारणाओं को जन्म दिया। इन सभी प्रवृत्तियों ने धर्म को व्यक्तिगत अनुभव, नैतिक आचरण, करुणा, अहिंसा और आत्म-संयम के आधार पर परिभाषित किया। इस प्रक्रिया में स्त्रियों, शूद्रों, वणिकों और वंचित

वर्गों को धार्मिक और दार्शनिक विमर्श में सम्मिलित किया गया, जिससे धर्म सामाजिक समानता और न्याय का माध्यम बना। यह धार्मिक लोकतंत्रीकरण न केवल तत्कालीन समाज के लिए परिवर्तनकारी था, बल्कि इसकी दीर्घकालीन छाया भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता, बहुलता और समावेशिता पर भी पड़ी। धर्म अब केवल मोक्ष का साधन नहीं रहा, बल्कि सामाजिक नैतिकता, आत्मदर्शन और सह-अस्तित्व की प्रेरणा बन गया। यही मूल्य आगे चलकर संत परंपरा, भक्ति आंदोलन और आधुनिक धर्मनिरपेक्ष भारत की नींव में समाहित हुए। इस प्रकार, छठी शताब्दी ईसा पूर्व में प्रारंभ हुआ यह आंदोलन भारतीय इतिहास के सबसे गहन और व्यापक सामाजिक-धार्मिक परिवर्तनों में से एक सिद्ध हुआ।

**संदर्भ सूची :**

1. शर्मा, रामशरण, *प्राचीन भारत का इतिहास*, नई दिल्ली, 2002, पृ. 205.
2. मजूमदार, आर. सी., *भारत का सांस्कृतिक इतिहास*, कोलकाता, 1998, पृ. 133.
3. अली, रोशन, *महाजनपद काल का सामाजिक इतिहास*, वाराणसी, 2011, पृ. 43.
4. शर्मा, पं. भीष्म दत्त, *वैदिक समाज और धर्म*, दिल्ली, 2015, पृ. 89.
5. मोदी, सुरेश चंद्र, *भारतीय इतिहास: प्रारंभिक काल*, पटना, 2010, पृ. 97.
6. शर्मा, रामशरण, *प्राचीन भारत का सामाजिक और धार्मिक इतिहास*, नई दिल्ली, 2005, पृ. 154.
7. धर्मपाल, *वैदिक संस्कृति और सामाजिक संरचना*, वाराणसी, 2012, पृ. 105.
8. वही,पृ. 93.
9. धर्मपाल, *भारतीय दार्शनिक परंपरा और श्रमण आंदोलन*, वाराणसी, 2015, पृ. 117.
10. प्रसाद, राजेंद्र, *प्राचीन भारत में धार्मिक क्रांति*, पटना, 2009, पृ. 85.
11. श्रीवास्तव, विष्णु, *बौद्ध और जैन धर्म का इतिहास*, नई दिल्ली, 2013, पृ. 49.
12. झा, अनिल कुमार, *भारतीय दर्शन: श्रमण और वैदिक दृष्टि*, मुंबई, 2018, पृ. 68.
13. सिंह, रामजी, *बौद्ध धर्म: इतिहास और दर्शन*, वाराणसी, 2012, पृ. 65.
14. तिवारी, अजय कुमार. *गौतम बुद्ध और उनकी शिक्षाएँ*, पटना, 2015, पृ. 107.
15. कुमार, विनय, *प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन और बौद्ध धर्म*, नई दिल्ली, 2008, पृ. 104.
16. मिश्रा, देवेन्द्र, *बौद्ध धर्म का सामाजिक प्रभाव*, इलाहाबाद, 2003, पृ. 55.
17. झा, हरिभद्र, *जैन धर्म का इतिहास और दर्शन*, वाराणसी, 2010, पृ. 46.
18. मिश्र, बलदेव, *महावीर स्वामी और जैन धर्म की शिक्षाएँ*, पटना, 2013, पृ. 80.
19. त्रिपाठी, रामेश्वर, *भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान*, दिल्ली, 2011, पृ. 115.
20. वैद, कमल, *जैन साहित्य और दर्शन*, मुंबई, 2007, पृ. 49.
21. गोस्वामी, हेमचन्द्र, *धार्मिक आंदोलन और समाज परिवर्तन*, मथुरा, 2008, पृ. 150.
22. त्रिपाठी, गंगाधर, *प्राचीन भारत में धर्म और समाज*, लखनऊ, 2011, पृ. 89.
23. वही, पृ.109.
24. शर्मा, रामशरण, *पूर्वोक्त* , पृ. 260.

25. मुखर्जी, डॉ. रा. के., *भारतीय दर्शन और समाज*, मुंबई, 2005, पृ. 191.
26. वही, पृ. 94
27. बेनर्जी, ए. एल., *सोशल एंड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया*, कोलकाता, 1987, पृ. 313.
28. शर्मा, रामशरण, *भारत में प्राचीन सामाजिक परिवर्तन*, दिल्ली, 1992, पृ. 212.
29. कोसांबी, डी. डी., *प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता*, पुणे, 2001, पृ. 198.
30. मिश्र, उमेश, *भारतीय धर्म और संस्कृति का विकास*, वाराणसी, 2010, पृ. 142.
31. श्रीवास्तव, ए. एल., *भारत का सांस्कृतिक इतिहास*, आगरा, 1997, पृ. 265.